साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक चेतना

साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक चेतना

डॉ. पुष्पेन्द्र दुबे
प्रोफेसर
महाराजा रणजीतसिंह कॉलेज
ऑफ प्रोफेशनल साइंसेस
इन्दौर (म.प्र.)

अयन प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली

ISBN : 978-81-7408-438-5

अयन प्रकाशन
1/20, महरौली, नई दिल्ली–110 030
दूरभाष : 2664 5812
e-mail : ayanprakashan@rediffmail.com

•

मूल्य : 300.00 रुपये

प्रथम संस्करण 2010 © डॉ. पुष्पेन्द्र दुबे

SATHOTTARI HINDI UPANYASON ME RAJNITIK CHETNA (Research)
by Dr. Pushpendra Dubey

मुद्रक : विशाल कौशिक प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली–110093

अपनी बात

तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' के अयोध्या कांड में यह उल्लेख मिलता है कि जब भरतजी अपने बड़े भाई श्रीराम से मिलने के लिए जा रहे थे, तब उनका हृदय पूरी तरह प्रेम में डूबा हुआ था। वे अपने साथ में श्रीराम के राज्याभिषेक का सारा सामान भी ले जाते हैं। तब भरत के हृदय में नाममात्र के लिए भी 'राजनीति' नहीं आयी। यहां प्रश्न उठता है कि यदि भरत के हृदय में राजनीति आती तो क्या होता? वे अपनी मां कैकेयी को खरी-खोटी नहीं सुनाते, मंथरा को राज्य में सर्वोच्च पद देते, श्रीराम के वनगमन पर खुशियां मनाते, चौदह वर्ष के वनवास को अट्ठाइस वर्षों में बदल देते। महल को सजाते-संवारते, कौशल्या और अन्य माताओं और भाइयों की पत्नियों को देशनिकाला देते अथवा कारागार में डाल देते, छोटे भाई शत्रुघ्न को अपने में मिलाने के लिए प्रलोभन देते, अपने राज्य को निष्कंटक करने के लिए भरत जी वह सारे उपाय करते जो आज की राजनीति में जायज़ माने जाते हैं।

जब राजनीति शब्द चलन में आया होगा, तब निश्चय ही इसका अर्थ बहुत ऊंचा होगा। किसी क्षेत्र के लोगों के योगक्षेम की चिंता रखने और सुख-शांति-समृद्धि के लिए दिन-रात सेवा करने का नाम राजनीति रहा होगा। विकेंद्रित ढंग से राज्य संचालन के लिए बनाई जाने वाली नीतियां ही राजनीति है, ऐसा माना और जाना गया। कालांतर में राजनीति शब्द अपने स्तर से नीचे गिर गया और उसने अपना अर्थ खो दिया। हृदय और मन में राजनीति आने का मतलब ही है सब कुछ ठीक न होना। रामचरितमानस में ही तुलसीदासजी ने 'रामराज्य' की कल्पना करते हुए लिखा है - 'बैर न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।।' यह राजनीति के ठीक विपरीत अवधारणा है। आपस में विग्रह, विद्वेष, मत्सर और भेदभाव बढ़ाने का दूसरा नाम राजनीति है।

राजनीति ने दुनियाभर में विषमता को जन्म दिया और विषमता मिटने पर राजनीति नहीं रहेगी।

भारत ने बहुत त्याग-तपस्या के बाद अंग्रेजों से आज़ादी हासिल की। राज्य संचालन के लिए हमने जिस तंत्र को अपनाया, वह भारतीय समाज रचना के बिलकुल अनुपयुक्त है। भारत की एकता और अखंडता को कायम रखने के लिए जिस राजनीति और लोकतंत्र के गुण गाए जाते हैं, वास्तव में वह भारत की जनता के लिए कभी आश्वस्तकारी नहीं रहा। भारत की समस्याएं राजनीति और उसके संचालन के लिए बनाए गए तंत्र से शुरू होती हैं और साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में साहित्यकारों ने बड़े मनोयोग और सूक्ष्म दृष्टि से इन्हीं का वर्णन किया है। आज़ादी के बाद अपनाए गए इस तंत्र से देश की जनता कभी खुश नहीं रही, परंतु इससे छूटने का उपाय भी नहीं दिखाई दे रहा है। अंग्रेजों की गुलामी से 'छूटने' के बाद देश की जनता राजनीति की गुलाम हो गई, जो इस देश के नेताओं द्वारा उसके छलने के लिए चली जाने वाली चालों से भली-भांति परिचित है, परंतु वह कुछ भी करने में खुद को असमर्थ पाती है। दलों के दलदल में जब भी किसी नयी पार्टी का फूल खिला, जनता ने उस पर आंख मूंदकर विश्वास किया, परंतु कुछ ही समय बाद उसकी आशाओं-आकांक्षाओं पर पाला पड़ा। साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासकारों ने राजनीतिक क्षेत्र में अपनाये जाने वाले सभी हथकंडों का खुलासा तो किया है, परंतु परिस्थितियों को बदलने, हल करने का विचार उनके पास भी नहीं है। वैचारिक शून्यता के लिए वर्तमान में प्रचलित राजनीति और दलीय व्यवस्था ही ज़िम्मेदार है।

आज़ादी के बाद एक दौर ऐसा आया था, जब अभिक्रम नेताओं के हाथ से निकलकर जनता के हाथ में आने वाला था, लेकिन लोकनायक जयप्रकाश नारायण के संपूर्ण क्रांति आंदोलन ने देश में प्रतिक्रांति कर दी, परिणामस्वरूप तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी को आपातकाल लगाना पड़ा। आज़ादी के बाद अहिंसक क्रांति के लिए जो ज़मीन संत विनोबा ने तैयार की थी, उसे संपूर्ण क्रांति की भ्रांति ने तोड़ दिया। राजनीति ने संत विनोबा को 'सरकारी संत' की उपाधि दी और राही मासूम रजा ने 'कटरा बी आरज़ू' उपन्यास में लिखा कि आपातकाल यदि काली अंधेरी रात था तो उस रात के बाद कभी सवेरा नहीं हुआ।' स्थितियां इतनी बिगड़ती चली गईं कि श्रवण कुमार गोस्वामी को

'लोकतंत्र' की तुलना जंगल तंत्र से करनी पड़ी और उन्होंने उपन्यास लिखा 'जंगलतंत्रम'।

प्रस्तुत पुस्तक में अमृतलाल नागर के 'अमृत और विष' उपन्यास से लेकर कमलेश्वर के 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास तक फैली राजनीतिक चेतना का विश्लेषण किया गया है। यद्यपि यह प्रश्न हमेशा से विचारणीय रहा है कि साहित्य और राजनीति का सरोकार है अथवा नहीं, साहित्यकारों की राजनीतिक संबद्धता को लेकर भी प्रश्न उठाए जाते रहे हैं। चिंतनशील साहित्यकारों ने नपे-तुले शब्दों में अपने वैचारिक दृष्टिकोण को कई बार स्पष्ट किया है। राजनीतिक परिस्थितियों के विश्लेषण में तो उपन्यासकारों को सफलता मिली है, परंतु उनसे निजात पाने का उपाय उनके पास भी नहीं है।

अभी तक राजनीतिक संकट, मूल्यों के पतन, सामाजिक विघटन आदि का शोर होता रहा है। यदि मनुष्य को मनुष्य बने रहना है तो पूरी की पूरी समाज रचना और व्यवस्था को अहिंसक पद्धति से बदले बिना समस्याओं से छुटकारा पाने का रास्ता नहीं बचा है।

असम के संत माधवदेव ने 'राजनीति राक्षसेर शास्त्र' अर्थात् राजनीति को राक्षसों का शास्त्र बताया है। आज की परिस्थितियों में यही शास्त्र व्यवहार में उतर गया है। परिवर्तन के लिए पूरा देश आकुल-व्याकुल दिखाई दे रहा है। परिवर्तन के लिए साधन कौन से अपनाये जायें, यह प्रश्न देश के सामने मुंह बाए खड़ा है। व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा का पालन करने वाले लोगों ने सामाजिक जीवन के लिए हिंसा को मान्य किया है। इस हिंसा-अहिंसा की दुविधा में फंसा व्यक्ति जीवन मुक्ति के लिए छटपटा रहा है। 'वोट की राजनीति' हिंसक विस्फोट को रोकने में 'सेफ्टी वॉल्व' का काम कर रही है, लेकिन कब तक?

प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं सब मुद्दों पर विचार किया गया है। इस विषय के चयन में विनोबा भावे के दो वचनों ने प्रेरणा दी 'इलेक्शनं विलक्षणं' और 'यत्र यत्र इलेक्शनं तत्र कार्य न विद्यते'। राजनीति किसी का स्वधर्म नहीं हो सकती, बल्कि हमेशा कहा जाता है- 'राजनीति में पड़ना'। 'पड़ना' शब्द मराठी भाषा में 'गिरने' से संबंधित है। राजनीति में गिरने वाला ही सत्ता में ऊंचे शिखर का स्पर्श कर पाता है। साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में उपन्यासकारों ने राजनीति की इसी गिरावट का चित्रण किया है। सुधी पाठक इस पुस्तक को

पढ़कर जान पाएंगे कि राजनीति कैसी होती है या कैसी हो सकती है?

यद्यपि पुस्तक का प्रकाशन बहुत पहले हो जाना चाहिए था। श्रद्धेय श्री रसिकेश कृष्ण शर्मा के लगातार आग्रह के बाद शोध प्रबंध को पुस्तक का रूप मिल पाया। वे इस पुस्तक के पहले पाठक भी हैं। उन्होंने पुस्तक को शुद्ध करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उपाधि मिलने के बाद एक अपरिचित शोधार्थी ने जम्मू-कश्मीर से एक पत्र लिखा, जिसमें शोध प्रबंध के प्रकाशन की जानकारी चाही गई थी। बाह्य परीक्षक डॉ. नंदलाल कल्ला ने भी पुस्तक के प्रकाशन की सिफारिश की थी। उन दो सुधी पाठकों को भी धन्यवाद, जिन्होंने प्रकाशन के पूर्व पुस्तक पढ़कर प्रसन्नता व्यक्त की।

शोध प्रबंध के निर्देशक प्रो. गणेशदत्त त्रिपाठी जी के प्रति मैं आभारी हूं। माता-पिता का सहयोग और आशीर्वाद कदम-कदम पर मिलता रहा। उनके प्रति शब्दों में कृतज्ञता ज्ञापित नहीं की जा सकती। उन मित्रों के प्रति आभार, जिन्होंने पुस्तक से संबंधित संदर्भों को पढ़ा और सुना।

यह पुस्तक सुधी पाठकों के हाथों में है। वे ही निर्णय करेंगे कि 'राजनीति' के बाद अगला कदम क्या हो?

नवम्बर 2010 — **पुष्पेन्द्र दुबे**

पूज्य माता–पिता
और
गुरुवर प्रोफेसर गणेशदत्त त्रिपाठी जी को
सादर समर्पित

अनुक्रमणिका

1. भारतीय लोकतंत्र की रचना 13
2. भारतीय जनतांत्रिक व्यवस्था में चुनाव 33
3. चुनाव में मतदाता की स्थिति 59
4. सत्ता प्राप्ति : चुनाव का मुख्य लक्ष्य 67
5. सांप्रदायिक कट्टरता और सांप्रदायिकता के दुष्परिणाम 69
6. धर्मनिरपेक्षता की राजनीति 92
7. राजनीति और जातीय समीकरण 96
8. स्वातंत्र्योत्तर युग का भ्रष्ट नेतृत्व 105
9. भ्रष्टाचार 122
10. कांग्रेस पार्टी की सफलता का रहस्य 134
11. समाजवादी, वामपंथी, सामंती और पूंजीवादी तर्कों में टकराहट 142
12. राजनीतिक ओर आर्थिक हितों की जुगलबंदी 147
13. भाषायी और प्रांतीय राजनीति 150
14. सिद्धांतहीन राजनीति 157
15. दल-बदल की नीति का देश पर प्रभाव 163

16. आपातकाल 170
17. गांधी, मार्क्स, लोहिया, विनोबा और जयप्रकाश नारायण के वैचारिक आधारों पर बनने वाले राजनीतिक समीकरण 185
18. निष्कर्ष 212
◆ संदर्भ ग्रंथ 217

भारतीय लोकतंत्र की रचना

सन् '60 के बाद समाज के विभिन्न क्षेत्रों में जितनी तेजी से परिवर्तन हुए हैं, मूल्यों में गिरावट आई है ऐसा किसी ने स्वप्न में भी विचार नहीं किया था। आज राजनीति ने दुरात्मा का रूप धारण कर लिया है जो छोटी से लेकर बड़ी जगह तक विद्यमान है। इससे हर वह व्यक्ति पीड़ित है जो इसका क, ख, ग भी नहीं जानता है।

योरोप में हुए औद्योगिक विकास ने उपनिवेशी देशों में राजनीतिक स्वतंत्रता का आग्रह उत्पन्न किया। भारत देश भी इससे अछूता नहीं रहा। सन् 1942 में महात्मा गांधी के भारत छोड़ो आंदोलन ने स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए हमें कटिबद्ध कर दिया। 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही भारत-पाक का विभाजन हुआ। एक ओर भयंकर दंगों से उत्पन्न स्थितियों से हमें जूझना पड़ा, दूसरी ओर विस्थापितों के पुनर्वास के लिए साधन जुटाने पड़े। राजनीतिक स्वतंत्रता ने हमारे सोये हुए सपनों को जगाया। हमारी आकांक्षाएं कुलाचें मारने लगीं। आज़ादी के आंदोलन में आर्थिक विकास, सामाजिक न्याय, धार्मिक सद्भाव और सांस्कृतिक पुनरुद्धार के जो सपने संजोए थे, उनकी पूर्ति में हम जुट गए। अपने नेताओं पर हमारा गहरा विश्वास था। हमने संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था को अपनाया। भारत को गणतंत्र बनाया। सन् 1950 में स्वाधीन भारत के संविधान के लागू होने के साथ-साथ देश में जिस लोकतांत्रिक प्रणाली का शुभारंभ हुआ, उसमें लोकसेवकों का जनता के प्रति दायित्व और राष्ट्र निर्माण में उनकी भूमिका को स्पष्ट कर दिया गया।

आज़ादी के तुरंत बाद हमें व्यवस्था संचालन के लिए एक ऐसे तंत्र की

ज़रूरत थी, जिसमें भारत के अंतिम व्यक्ति को मदद का आश्वासन मिले। महात्मा गांधी की दृष्टि जिस दरिद्रनारायण पर टिकी थी, उसे ध्यान में रखकर संसदीय लोकतंत्र की संरचना की गईं इसे लागू करते समय यह ध्यान में रखा गया कि इसमें समाज के सभी वर्गों को समान प्रतिनिधित्व मिले। सभी को समान अधिकार मिलें। अनेक देशों के संविधान का अध्ययन कर और भारतीय समाज की संरचना को ध्यान में रखकर संविधान बनाया गया। आदर्श राज्य के लक्ष्य को नीति निर्देशक तत्वों में सम्मिलित किया गया। महात्मा गांधी का इस लोकतंत्रात्मक पद्धति में ज्यादा विश्वास नहीं था। वे अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदस्वराज' में इसकी कड़ी आलोचना कर चुके थे। 'समय और हम' में श्री जैनेंद्र कुमार ने एक प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है, "विधान एक संसदीय तंत्र भारत को देता है। यह संसदीय स्वरूप गांधीजी को बहुत आश्वासन देने वाला न था। मैं भी मानता हूं कि यह संसदीय व्यवस्था शासक वर्ग के लिए सार्वजनिक असंतोष को वाद-विवाद द्वारा बाहर फेंक देने का सुविधाजनक जरिया देती है, अधिक नहीं। लोकमत का दबाव उस द्वारा उतना प्रशासन पर नहीं आता, जितना प्रशासक वर्ग को जनमत के प्रति विश्वस्त बनाए रखने में मदद देता है। पार्लियामेंटरी पद्धति आज के ज़माने में अधूरी सिद्ध हो रही है।"

वास्तव में 1951 के प्रथम आम चुनाव में ही लोकतंत्र की पोल खुल गई थी। उसमें चुनाव जीतने के लिए जिन हथकंडों का इस्तेमाल किया गया वे औरों के लिए मार्गदर्शक का काम करने लगे। उपन्यासकारों ने भी आदर्श से अपना दामन झटक कर जीवन के कटु सत्यों एवं खुरदुरे यथार्थ को अपनी लेखनी से उजागर करना शुरू कर दिया। 'समकालीन हिन्दी कहानी : यथार्थ के विविध आयाम' में ज्ञानवती अरोरा लिखती हैं, "सन् '60 के बाद से हर भारतीय के सामने एक ही चुभता सवाल है, जो हरेक दूसरे से यह जानते हुए भी पूछता है कि आज़ादी के वर्षों पश्चात् हमने क्या पाया है? जिसका कोई ठोस उत्तर नहीं है, नकारात्मक न सकारात्मक। नकारात्मक इसलिए नहीं कह सकते कि देश ने ज्ञान-विज्ञान, तकनीक, अंतरिक्ष, उपग्रह, पंचवर्षीय योजनाएं, बड़े-बड़े बांध तथा अन्य क्षेत्रों में एक ओर प्रगति की है तो दूसरी ओर गरीबी, भुखमरी, बेकारी, महंगाई, भ्रष्टाचार ने आम आदमी की कमर तोड़ दी है। कानून के नाम पर अव्यवस्था उत्पन्न हुई है। सरकारें अस्थायी हैं, मिली-जुली बन रही हैं।"

लोकतंत्र की आधार पीठिका का निर्माण अंग्रेजों के ज़माने के नौकरशाहों की मौजूदगी में हुआ था। अमृतलाल नागर 'अमृत और विष' में संसदीय लोकतंत्र पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए लिखते हैं, "भाड़ में जाए मेरी जन्म शताब्दी। जहन्नुम में जाए ये बेपेंदी की सरकार और इसके कर्णधार। इन्होंने चालीस करोड़ आदमियों को कुत्तों का-सा जीवन बिताने पर मजबूर कर रखा है। इन्होंने व्यक्ति का आत्माभिमान नष्ट कर दिया है। अंग्रेजी राज में कम-से-कम हम तप तो लेते थे, उस गुलामी से जूझने के लिए हम अपने सिर तो तान लेते थे। मगर अब? आज सब उलट गया। ईमानदार लोग मूर्ख माने जाते हैं, जो मोटरों पर दौड़ सके, सरकारी परमिट न दिला सके, भला वह देशसेवी कैसे कहा जाए? जो समाज की रूढ़िवादिता पर कुठाराघात करे या अंधश्रद्धा को गलत बतलाए वह नास्तिक कम्युनिस्ट। अच्छी गाली बना रक्खी है। ...हद कर दी है इन लोगों ने। ये लोग अपने हलवे-मांडे की सुरक्षा के लिए स्वदेश को मूर्ख, कमज़ोर, कायर, निकम्मेपन से त्रस्त प्रलापों पागलों का देश बनाए रखना चाहते हैं।"

संसदीय लोकतंत्र में भारतीय परंपरा में घुले-मिले जीवन मूल्यों के व्यावहारिक पक्ष को नकार दिया गया। अपने मज़े के लिए सिद्धांतों की दुहाई सभी ने दी, लेकिन जब उसे लागू करने की बात आई तो नेतृत्व पीछे हट गया। फलतः जनता खुद को छला हुआ महसूस करने लगी। उसके हाथ में नियति को स्वीकारने के अलावा कोई चारा न था। इसी उपन्यास में नागरजी ने लिखा है, "सरकार में जाने के बाद हमारे बड़े-बड़े नेताओं में अब वह भाव-निष्ठा और सिद्धांतवादिता नहीं रह गई, जो उनमें आज़ादी मिलने के पहले दिखाई देती थी, उसी पर तो हम, उस ज़माने के युवक रीझे थे। ...मैंने कहा था, अगर यह व्यवधान न पड़ जाता तो आज भारत का रूप कुछ और ही होता। इन्होंने भूखे-नंगे किंतु तपस्वी भारत की तपस्या छील ली और भूखे-नंगेपन की हाय-हाय को अपने नये रियासती जोम से भड़का दिया है।" आज़ादी की आहट सुनते ही कुछ अंग्रेज भक्तों ने ऐसी पलटी खाई कि अपने गली-मोहल्ले में आज़ादी के सबसे बड़े पक्षधर हो गए। उनके ज़ोरदार नारों की आवाज़ में असली स्वतंत्रता सेनानियों की आवाज़ दबकर रह गई। "जो आज़ादी मिली वह मेरे काम की सिद्ध न हुई। मैं उंगली उठाकर खुद अपनी गली, आसपास के चार-छह मोहल्लों और नगर के ऐसे कई लोगों के नाम बतला सकता हूं जो

सन् उन्नीस सौ बयालीस तक आभ्यंतर अंग्रेजभक्त या कायर दुमदब्बू थे, वे आज देशभक्त और मुझे कम्युनिस्ट या नास्तिक तक कहने लायक गजभर जबान रखते हैं।"

अपने नेतृत्व पर अति विश्वास आम आदमी के लिए आत्मघाती सिद्ध हुआ। राजनीति के दंश से साहित्यकार तिलमिला उठा। उसने 'लोकतंत्र' की तुलना 'जंगलतंत्र' से की। श्रवण कुमार गोस्वामी का 'जंगलतंत्रम' उपन्यास फेंटेसी पर आधारित है, जिसमें कड़वी सच्चाई को उजागर किया गया है। इसमें सिंह सरकार, मोर अफसर, नाग व्यापारी और चूहा आमजन का प्रतीक है। सिंह बोला, "तुम लोगों ने सुना होगा कि मनुष्यों ने अपने लिए चार वर्णों का विधान किया है – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। पर हम मनुष्य नहीं पशु हैं, इसलिए इस तरह के वर्गीकरण से हमारा काम नहीं चल सकता। मैं इसे नये रूप में रखना चाहता हूं।"

"जी।" सबने कहा।

"मेरे वर्गीकरण के अनुसार यहां भी चार ही वर्ण होंगे – सिंह वर्ण, मोर वर्ण, नाग वर्ण और चूहा वर्ण। सिंह वर्ण में मैं अपने को रखता हूं और मैं ही प्रशासन की बागडोर संभालूंगा।"

"जी।"

"मोर, तू कहीं भी, कभी भी और किसी के भी सामने नाच सकता है। तुझमें यह एक बड़ी विशेषता है और यही कारण है कि तू शासन तंत्र को अच्छी तरह संभाल सकता है। मैं तुझे यह काम सौंपता हूं। इस तरह तुम्हारा नंबर दूसरा हुआ।"

मोर ने नाचकर सिंह का अभिवादन किया।

"नाग, तू तो सचमुच बड़ा भाग्यवान है। हम तीनों ने ज़िंदगीभर किसी के शरीर का बोझ ही उठाया है, पर तू तो शिवजी के गले का हार बना रहा। लेकिन तुझमें एक बुराई है। तू ज़हर उगलना नहीं छोड़ सका। तुझमें एक बुराई और भी है। तू जबान का पक्का नहीं, क्योंकि तेरे पास दो जीभें हैं। खैर कोई बात नहीं। तेरे वे दोष यहां गुण बन गए हैं। यहां वाणिज्य में वही सफल होता है जो ज़हर उगलने की खूबी रखता है और हमेशा दो जबानों का प्रयोग करता है। इसलिए मैं तुझे वाणिज्य व्यापार का काम सौंपता हूं, किंतु यह भी बताए देता हूं कि तू ज्यादा ज़हर उगलने और अपनी जीभ को ज्यादा लंबी करने की

कोशिश नहीं करेगा। यदि तूने ऐसा किया, तो मैं तुम्हारी गर्दन मरोड़ दूंगा।" सिंह ने आदेश दिया।

"हुजूर, मेरे रहते आप क्यों कष्ट करेंगे?" मोर ने नाचते हुए कहा।

"वाह मोर! शाबाश! मुझे तुमसे यही आशा है।" सिंह ने प्रशंसा की।

सिंह ने चूहे से कहा, "तुम लोगों ने मिलकर मुझे जंगलपति बनाया है, इसलिए अगर मैं चाहूं तो बराबर राजा बना रह सकता हूं। मेरे बाद मेरी जगह पर मेरी औलाद भी इस गद्दी पर बैठ सकती है। पर, दुनिया बदल गई है, इसलिए मैं राजतंत्र में विश्वास नहीं रखता। मैं समानता में विश्वास करता हूं। यहां का राज्य हम सभी मिलकर चलाएंगे और इस राज्य का नाम जंगलतंत्र होगा। जंगलतंत्र में सबके अधिकार समान होंगे। न यहां कोई छोटा होगा और न बड़ा। यह सही है कि हम लोगों के बीच चूहा सबसे छोटा, कमज़ोर, पिछड़ा, अशिक्षित, दलित और दुखी है इसलिए इसकी उन्नति एवं समृद्धि पर हम सबसे ज्यादा ध्यान देंगे। चूहे की शिकायतों को जड़ से मिटा देना हमारा संकल्प होगा।"

आज आज़ादी के 63 साल बाद जब हम पीछे मुड़कर अपने तंत्र की समीक्षा करते हैं तो पाते हैं कि लोकतंत्र में आम आदमी की स्थिति कितनी दयनीय है। 'समसामयिक हिन्दी साहित्य में' हरिवंशराय बच्चन ने शंका जाहिर की है कि, "आज का प्रजातंत्रवाद भी मनुष्य को जीवन की विडंबनाओं, संघर्षों और आंतरिक भग्नता से बचा सकेगा, इसमें उसे संदेह हो गया है।"

श्रवण कुमार गोस्वामी की प्रजातंत्र के प्रति यह तल्खी जायज़ और देखने योग्य है कि, "जंगलतंत्र का एक संविधान होगा, जिसमें कहा जाएगा जंगलतंत्र एक ऐसी शासन व्यवस्था है जो जंगल के लोगों की है, जंगल के लोगों द्वारा संचालित है और जंगल के लोगों के लिए है।"

लोकतंत्रात्मक प्रणाली में अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख की व्यवस्था तो है, लेकिन सभी लोगों के लिए न्यूनतम सुख-सुविधाओं की गुंजाइश नहीं है। इसलिए प्रजातंत्र में सरकार जब-तब जिस-तिस को रियायतें देकर खुश करती रहती है। 'जंगलतंत्रम' में श्री गोस्वामी ने लिखा है, "मोर, तू तो कुछ समझता ही नहीं। इस संविधान में चूहे को दिए गए आश्वासन भी शामिल होंगे, जिन्हें देखकर चूहा और उसकी बिरादरी के लोग संतुष्ट रहेंगे और जब तक ये लोग संतुष्ट रहेंगे, हमारे ऊपर किसी प्रकार का भी संकट

नहीं आ पाएगा। बोल, समझ गया कि नहीं?"

"समझ गया हुजूर! आपकी नीति लाजवाब है।"

"बेवकूफ तू इसे नीति कहता है? यह नीति नहीं राजनीति है, राजनीति। बोल, समझ गया कि नहीं।"

आज़ादी के बाद से नेताओं ने आम आदमी को अपने भाषण और नारों में हमेशा ऊंचा स्थान दिया, लेकिन उसकी दशा सुधारने के प्रति सदा उदासीन ही बने रहे। उन्होंने हमेशा उस 'लोक' की उपेक्षा की जिसके बल पर उनका 'तंत्र' कायम है। नेताओं ने लोकतंत्र की रक्षा की दुहाई देकर और झूठे आश्वासनों के घेरे में लेकर सदा उसका भावनात्मक शोषण किया। पार्टी को संकट में घिरते देख हवा में एक नया नारा उछाल दिया जनता के खेलने के लिए।

सिंह ने भाषण शुरू किया – "जंगलतंत्र का मतलब एक ऐसा राज्य होता है, जिस पर जंगल के सभी लोगों का समान अधिकार हो। इस राज्य में हम सभी बराबर हैं, प्रजा होने के साथ-साथ राजा भी हैं। सिर्फ प्रशासन की सुविधा और जंगल की एकता के लिए मैं राजा बना हूं। परंतु सच्ची बात तो यह है कि मैं आप लोगों का सबसे बड़ा सेवक हूं। आपकी सेवा ही मेरा धर्म है। मोर एक ऐसा सेवक है जो राज्य के नियमों के पालन के लिए उत्तरदायी है। इसी तरह नाग है जो वाणिज्य व्यापार चलाता है। पर, एक वर्ग ऐसा भी है जिसे हर हुकूमत में दबाकर रखा गया और वह है चूहा – जैसे छोटे जीव-जंतुओं का वर्ग, जिसे आम जनता का वर्ग भी कहा जाता है। इस वर्ग के लोग कमज़ोर हैं, इसलिए दूसरों ने इस कमज़ोरी का नाजायज़ फायदा उठाया। लेकिन अब ऐसा नहीं हो सकेगा। चूहा और उसके जैसे सारे छोटे जीव भी हमारे ही समान हैं। जंगलतंत्र के संविधान में उन सबको बराबरी का दर्जा दिया गया है। अब ज़माना बदल गया है और जंगलतंत्र का ज़माना है।... अब चूहे की ओर और उसके जैसे छोटे-छोटे प्राणियों की ओर कोई घृणा से नहीं देख सकता। दुनिया के साथ-साथ आगे बढ़ने की कसम हमने खाई है। जंगल के जीवों की उन्नति के लिए अनेक उपाय किए जा रहे हैं – स्कूल कॉलेज की स्थापना होगी, कल-कारखानों और नदियों की धारा को रोकने वाले बांधों का निर्माण होगा, जंगल विकास के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएं बनेंगी और हर क्षेत्र में हम आगे बढ़ेंगे। दुनिया को हम दिखा देंगे कि हमारा जंगलतंत्र

कितना महान् और शक्तिशाली है। हम जंगलतंत्र में पक्का विश्वास करते हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि हमारे यहां भी आम चुनाव होंगे और यहां के लोग उसमें उम्मीदवार तथा मतदाता की हैसियत से भाग ले सकेंगे। मैं भाषण में विश्वास नहीं करता हूं। आज से हमारा नारा होगा – 'आराम हराम है'। बस। जय जंगल।"

आज़ादी के बाद देश जैसे-जैसे तरक्की के रास्ते पर अग्रसर होता गया, भौतिक समृद्धि की नयी ऊंचाइयों को स्पर्श करता गया, वैसे-वैसे उसका नैतिक पतन भी होता गया। लोगों में यह धारणा दृढ़ होती चली गई कि सौ तालों की एक ही चाबी है राजनीति। उसमें प्रवेश करो और अपने लिए जीवनभर के ऐशो-आराम जुटा लो। लोकतंत्र में मुंडियों का महत्व बढ़ गया, उन मुंडियों के भीतर क्या है, यह जानने, समझने, सोचने की फुर्सत किसी को नहीं रही।

स्वतंत्र भारत का उद्देश्य 'कल्याण राज्य' का निर्माण करना है। गणतंत्रात्मक संविधान में प्रत्येक नागरिक की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं और सबके समानाधिकारों आदि की स्पष्ट घोषणा भी है। प्रजातांत्रिक समाजवाद की स्थापना के लक्ष्यांतर्गत दो पंचवर्षीय योजनाओं 1950-1960 के बाद तीसरी पंचवर्षीय योजना 1961-1965 और इसके बाद आज तक लागू की गई पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से चौमुखी उन्नति तो हुई, लेकिन उतना ही असंतोष भी फैला है। यही एक भारी विडंबना है।

आज़ादी के समय हमने लोकतंत्र की स्थापना की थी, लेकिन बाद में यह भीड़तंत्र में तब्दील हो गया। तभी तो जनता के अथवा चूहों के आंदोलन से घबराकर बाघ जैसा जानवर भी भाग खड़ा होता है।

'जंगलतंत्रम' में सिंह, बाघ से कहता है, "तू बाघ होकर भी मार खा गया?"

"हुजूर, भीड़ के सामने किसी की नहीं चलती। मुझे तो लगता है कि यहां जंगलतंत्र की जगह अब भीड़तंत्र कायम हो गया है।"

दादा धर्माधिकारी ने 'सर्वोदय दर्शन' में भीड़तंत्र को समझाते हुए लिखा है, "पिकविक का एक प्रसिद्ध किस्सा है। एक बार उसका एक दोस्त पिकविक से पूछता है, जब कभी दिल में शक हो तो क्या करें?"

तो वह उसे एक सूत्र बतलाता है, "जब कभी तुम्हारे दिल में शक हो तो भीड़ के पीछे चलो।"

"दो भीड़ें हों तो क्या करें?"

"तो जो भीड़ बड़ी हो, उसके पीछे चलो।"

भीड़ के पीछे जाना, बहुमत के पीछे जाना, लोकसत्ता नहीं है। यहां लोगों की सत्ता कहीं नहीं है, भीड़ की सत्ता है। हम भीड़ की पूंछ पकड़कर उसके पीछे चले जाते हैं।"

भारतीय लोकतंत्र में शब्दों की बाजीगरी का एक अलग ही महत्व है। चूंकि हमने आज़ादी त्याग, तपस्या, अहिंसा आदि महान शब्दों के क्रियारूप में परिणत होने से पाई, तो वह जनता के अवचेतन मन में कहीं गहरे पैठ गए हैं। इस देश के नेता को यह अच्छी तरह मालूम है कि आम आदमी के सामने इन शब्दों को दोहराने का क्या मतलब होता है।

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'सामर्थ्य और सीमा' का पात्र रतनचंद्र मकोला हंसते हुए कहता है, "त्याग, बलिदान, कष्ट! बड़े प्यारे और खूबसूरत शब्द हैं, जिनके कोई मतलब नहीं होते। लेकिन इन शब्दों का बहुतायत के साथ प्रयोग किया जाता है, लोगों को मूर्ख बनाने के लिए। इन शब्दों से ही गाड़ी ढकेली जा रही है।"

आज राज्य सत्ता पुलिस और सेना के सहारे – शस्त्र सत्ता के सहारे जी रही है, कानून की छत्र-छाया में बढ़ रही है, धन सत्ता के भरोसे पलती-पनपती है और विज्ञान के जरिये वह विकासमान है। परंतु इतने साधनों से सज्जित रहने पर भी वह शत-प्रतिशत जनता को सुखी करने में अपने को असमर्थ पाती है। एक ओर तो वह अल्पसंख्यकों के प्रति अन्याय न होने देने का दावा करती है, दूसरी ओर बहुसंख्यकों के हितों की रक्षा का ढिंढोरा पीटती है। पर अल्पसंख्यक भी उसकी शिकायत करते हैं, बहुसंख्यक भी। कारण, उसका आदर्श रहता है – अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख। उसने यह मान लिया है कि सबको तो हम अधिकतम सुख दे नहीं सकते, इसलिए अधिकतम लोगों को यदि हम अधिकतम सुख दे लें तो हमारा कर्तव्य पूरा हो गया। हमारी आज की राजनीति या लोकतंत्र का स्वरूप इन्हीं आदर्शों पर पल रहा है। पर इससे मानव-जाति का कल्याण संभव नहीं है।

महात्मा गांधी जीवनपर्यंत सार्वजनिक जीवन में पारदर्शिता और शुचिता

की नीति पर चलते रहे। उनका जीवन एक खुली किताब के समान था। इसलिए वे इस देश की जनता के दिलों का स्पर्श कर पाए। कमलेश्वर के 'कितने पाकिस्तान' का पात्र अदीब कहता है, "सार्वजनिक जीवन में काम करने वाले लोगों का कुछ भी निजी या अपना नहीं होता। वह लोग हमेशा अवाम की अदालत में हाजिर समझे और माने जाते हैं... उनके व्यक्तिगत विचार अगर उनके सार्वजनिक विचारों से मेल नहीं खाते तो ऐसे लोगों को यह नैतिक अधिकार नहीं है कि वे सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र में रहें!"

वास्तविक शक्ति आज सुषुप्तावस्था में है। आज़ादी के आंदोलन के दौरान जैसी शक्ति का प्रस्फुटन हुआ था, वैसी शक्ति के दर्शन कभी नहीं हुए। इसका कारण बताते हुए बच्चन जी ने लिखा है, "स्वतंत्रता मिलते ही तप और त्याग के जीवन को विराम मिल गया - एक तरह से दोनों को व्यर्थ सिद्ध करते हुए, क्योंकि अंततः समझौता ही करना था तो इतने बलिदानों की ज़रूरत क्या थी। यों भी एकनिष्ठ साधना की आवश्यकता न रही। आज़ादी का लक्ष्य पूरा हो चुका था और अन्य कोई लक्ष्य सामने था नहीं। ...जनता को लगता था कि स्वतंत्रता संग्राम में उसने अपनी भूमिका निष्ठापूर्वक निभा दी, अब शेष काम सरकार का है। लक्ष्य के अभाव में राष्ट्र की शक्ति केंद्र-च्युत होने लगी। व्यक्ति भी समाज से कटकर अपने में सिमटने लगा।"

आज़ादी की आधी शती से अधिक बीत जाने के बाद भारतीय लोकतंत्र और राजनीति एक ऐसे पड़ाव पर आकर ठहर गए हैं, जहां बिखराव की अनेक अंधेरी गुफाएं हैं। उन बलिदानियों ने सपने में भी यह कल्पना नहीं की होगी कि आज़ादी के बाद राजनीतिक पक्ष का इतना बुरा ह्रास होगा। आज समकालीन राजनीतिक जीवन और व्यवस्थाएं नष्ट-भ्रष्ट होकर नये जीवन की तलाश में भटक रही हैं। राजनीतिक व्यवस्था में जिस तरह गिरावट आई है वह कल्पनातीत है।

यह लोकतंत्रात्मक प्रणाली का ही दोष है कि एक बार चुनकर भेज देने के बाद अपने 'नौकर' पर जनता का कोई नियंत्रण नहीं रह जाता। भारतीय राजनीति के स्थापित मूल्यों और मानदंडों में तथा शाश्वत आदर्शों में इस प्रकार घुन लगेगा, अधःपतन होगा इसकी किसी ने कल्पना नहीं की थी। आज राजनीति व्यवसाय बन गई है। सत्ता सुख और राजश्री प्राप्त करने का मादक साधन बन गई है। जनकल्याण भावना केवल शब्दों तक सीमित है।

भगवतीशरण मिश्र 'अथ मुख्यमंत्री कथा' में लिखते हैं, "आपकी वर्तमान पार्टी और इसके महान नेता मुख्यमंत्री के लिए प्रजातंत्र का अर्थ महज वोट बटोरने का हथकंडा रह गया है। ये वोट जातीय विद्वेष और घृणा फैलाकर मिलें, सांप्रदायिकता को दूध पिला-पिला कर जीवित रखकर मिलें, लाठी और गोली के आधार पर 'बूथ केप्चरिंग' द्वारा मिलें, शराब और पैसे की कीमत पर मिलें तथा और तो और सर्वोच्च अधिकारियों को, जो आपको वोटों की गणना के आधार पर विजयी घोषित करते हैं डरा-धमकाकर अथवा उनमें जो बिक्री के लिए प्रस्तुत हों, उन्हें मुंहमांगी कीमत देकर खरीदने के आधार पर मिलें। यही है आपका प्रजातंत्र और यही है उसके प्रति आपकी निष्ठा। और हमारी निष्ठा यह है कि प्रजा जिसे भी चुनकर भेजती है उसे सिर आंखों पर बैठा लेते हैं, आपके सामने और अज्ञानी शिक्षामंत्री के लिए तोरण द्वार और वंदनवार सजाते हैं। उनसे 'कन्वोकेशन एड्रेस' कराते हैं और उनकी बेबसी को समझ उनके लिए भाषण लिख देते हैं।"

लोकतंत्र ने जन-मन में कभी भी आशा का संचार नहीं किया। केवल चुनाव के समय उसे थोड़ा यह अहसास होता कि अब हम निश्चित स्वर्ग में पहुंच जाएंगे, कठिनाइयों का अंत हो जाएगा, चारों ओर खुशहाली होगी, लेकिन चुनाव के बाद नेताओं की कलई खुल जाती है और मतदाता कुछ भी करने की स्थिति में नहीं रह जाता। समकालीन राजनीति परंपरागत मूल्यों एवं आदर्शों से दूर होती चली जा रही है। साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में लेखकों ने इस स्थिति का मनोयोगपूर्वक वर्णन किया है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान राजनेता जीवन मूल्यों को साथ लेकर चले थे जिनमें नैतिकता, सांप्रदायिक सद्भाव एवं प्रेम, निर्धनों और दलितों के प्रति सामाजिक न्याय और करुणा भाव, सह अस्तित्व और परोपकार, जनसेवा, जनकल्याण और आचरण की पवित्रता आदि प्रमुख थे। संविधान की भावना भी यही कुछ प्रकट करती है। भारतीय राजनीति का तकाजा भी यही था कि इन्हीं को आधार बनाकर चला जाए। तमाम राजनीतिक दलों ने इन्हें अपने सिद्धांतों एवं चुनावी घोषणा पत्रों में समादर दिया। लेकिन युगीन स्वार्थपरक राजनीति में न केवल ये उपक्षित हुए, अपितु इनके प्रतिकूल आचरणों ने राष्ट्रीय चेतना को भी आघात पहुंचाया।

डॉ. हरिवंशराय बच्चन ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है, "स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का सत्य इतना भयानक था कि हम उसकी ताब न ला सके

आज़ादी हमें हार मान लेने पर मिली थी, पर हम उसे अपनी विजय मान बैठे। खंडित भारत को स्वीकार करके भी हम राग अखंडता का अलापते रहे, हिंसा की ओर झुककर भी हम नारा अहिंसा का लगाते रहे। इस प्रकार आत्मप्रवंचना का युग शुरू हुआ।" यह आत्मप्रवंचना का युग मानव-मूल्यों के निर्मम विघटन और जीवन व्यापी कुंठा-कटुता को लिए अपनी संपूर्ण प्रकृति-विकृति के साथ हिन्दी उपन्यास में प्रतिबिंबित हुआ है।

भगवतीचरण वर्मा के 'सामर्थ्य और सीमा' उपन्यास के पात्र देवलंकर ने समझा कि स्वदेश जाकर नवनिर्माण करना चाहिए पर जाने कितनी समस्याएं थीं देश के सामने।... ब्रिटिश काल की नौकरशाही के चक्कर में उन्हें दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं और धीरे-धीरे उनके अंदर वाला सारा उत्साह मर गया। देश के पुनर्निर्माण के लिए लोगों द्वारा किए जाने वाले प्रयासों को नौकरशाही ने हमेशा ओछी निगाह से देखा। आज़ादी के बाद जिस उत्साह और ईमानदारी की आवश्यकता नौकरशाही के लिए ज़रूरी थी, उसका कभी विकास नहीं हुआ। नेताओं का सारा ध्यान तथाकथित प्रजातंत्र को टिकाए रखने में लगा रहा, क्योंकि उसी के मार्फत वे भी टिके रह सकते थे। इस स्थिति से निराश हो उपन्यास का पात्र देवलंकर कहता है, "आप शायद भारत के प्रसिद्ध उद्योगपति मकोला हैं। गणासिया बांध को बंधवाने का ठेका आपकी ही फर्म ने लिया था जो दूसरी बरसात में ही बह गया था। मंत्री पूंजीपतियों को उपकृत करते हैं, सरकारी अफसर रिश्वत लेते हैं, ठेकेदार चोरबाज़ारी करते हैं और मज़दूर हरामखोरी करते हैं। किसी का कोई कसूर नहीं। बांध बंधेंगे और टूटेंगे, कारखाने लगाए जाएंगे और ठप पड़े रहेंगे और जनता के लोग पैसे-पैसे पर जान देंगे और बेईमानियां करेंगे।"

स्वातंत्र्योत्तर भारत की अस्थिर नीतियों ने देश की प्रगति में अत्यधिक बाधा पहुंचाई है। इसका कारण सिद्धांतों की कमी नहीं है, अपितु सिद्धांतों का अव्यवहार्य रूप है। भ्रष्ट नेताओं की अदूरदर्शिता सिद्धांतों की पवित्रता का निर्वाह न कर सकी। परिणाम स्पष्ट था कि अराजक तत्वों को बढ़ावा मिला और राष्ट्रीय राजनीति गुमराह होती गई।

भारतवर्ष में स्वाधीनता प्राप्ति के पहले ही अनेक नेताओं ने समाजवादी विचारों को अपना लिया था, परंतु वे समाजवाद के प्रजातांत्रिक स्वरूप में अभिरुचि रखते थे। इन नेताओं में पं. नेहरू, आचार्य नरेंद्र देव, आचार्य

कृपलानी, डॉ. लोहिया, अशोक मेहता आदि प्रमुख हैं। प्रजातंत्र जनता का शासन है, जो जनता द्वारा और जनता के लिए होता है। "सीधी सच्ची बातें' उपन्यास में वर्माजी कहते हैं, "डेमोक्रेसी व्यक्ति नहीं है, डेमोक्रेसी समूह है। वह व्यक्ति के आधिपत्य को स्वीकार नहीं करती, वह रुपये के आधिपत्य को स्वीकार करती है।"

प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था में जनमत का महत्वपूर्ण स्थान हो गया। जनता ने स्वराज्य आने पर खुशियां मनाईं और नेताओं ने प्रसन्नता अनुभव की। लेकिन यह सभी कुछ कोरा नाटक था। जनता द्वारा प्रदान किए गए डंडे से जनता पर शासन किया जाने लगा। इसीलिए उसकी अंतर्निहित बुराइयों को स्पष्ट करते हुए वर्माजी 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' उपन्यास में कहते हैं, "स्वराज्य? यह स्वराज्य है क्या चीज? जनता के प्रतिनिधियों के द्वारा जनता का शासन! और जनता? यह अपढ़, मूर्ख और कंगाल जनता? किसी के भी बरगलाने में यह जनता आ सकती है। इसके माने यह है कि जो जितना ही मक्कार, चालाक और बेईमान होगा, वही इसका प्रतिनिधि बन सकेगा और इसका प्रतिनिधि बनकर शासन करेगा। इस स्वराज्य के यही अर्थ होंगे। रूस, जर्मनी, इटली- इन देशों में भी तो, जहां की जनता शिक्षित है, अपना हित-अहित समझ सकती है, यही हो रहा है।"

आश्चर्य की बात नहीं आज स्वतंत्र भारत में प्रजातंत्र का यही स्वरूप देखने को मिलता है। सरकार बनाने के लिए जनमत का कोई महत्व नहीं रह गया है, क्योंकि आज पैसे के आधार पर वोटर खरीद लिए जाते हैं और चुनाव जीत लिया जाता है। 'सामर्थ्य और सीमा' में भगवतीचरण वर्मा ने लिखा है, "यह वोटों वाला जनतंत्र है, जहां वोट खरीदे जाते हैं, ठीक उस प्रकार है, जिस प्रकार जीवन की सभी चीजें खरीदी जाती हैं, यह बनिये के हाथ की कठपुतली बन गया है।"

स्वातंत्र्योत्तर युग में प्रजातंत्र द्वारा जिस सुव्यवस्था को स्थापित करने की आशा की गई थी, उस पर पानी फिर गया, क्योंकि प्रजातंत्र का जो मुख्य उद्देश्य था प्रजा द्वारा शासन करना, भ्रष्ट नीतियों के कारण सफल न हो सका। प्रजातंत्र जनता को पूंजीवाद की प्रतियोगिता - व्यवस्था, शोषण एवं अन्याय से न बचा सका और न आर्थिक समानता ही स्थापित करने में सफलता मिली। आम चुनावों में बेईमान सत्तारूढ़ दल को जनता चाहते हुए भी न हटा

पाई और प्रजातंत्र जिसे उसने अपने लिए वरदान समझा था वही अभिशाप बन गया। 'लोकतंत्र समीक्षा' के जनवरी–मार्च 1969 के अंक में डॉ. एल. एम. सिंघवी ने लिखा है, "लोकतंत्र के इतिहास में वर्तमान युग को चुनौतियों और अज्ञात संभावनाओं के संक्रांति युग की संज्ञा दी जा सकती है। आज भारत में ही नहीं अपितु संसार के अन्य देशों में भी लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्थाओं को पग–पग पर विकट राजनीतिक तथा सांविधानिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान का यह दृढ़ विश्वास है कि जो लोग अपने शासन का स्वरूप और स्वभाव नहीं समझते, वे स्वतंत्रता तथा स्वतंत्र संस्थाओं की अधिक समय तक रक्षा नहीं कर सकते।"

साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासकारों ने स्वाधीनता परवर्ती प्रजातांत्रिक व्यवस्था का सूक्ष्म अध्ययन किया। सभी नेता स्वार्थ–साधन में लगे दिखाई पड़ते हैं, जनता की कौन पूछे? ये नेता लोग कट्टर सिद्धांतवादी न्याय के पाठ दूसरों को तो प्रतिदिन पढ़ाते हैं, परंतु स्वयं उसके अपवाद हैं। 'सबहिं नचावत राम गोसाईं', 'सामर्थ्य और सीमा' तथा 'प्रश्न और मरीचिका' में प्रजातंत्री खोखली अव्यवस्था को यथार्थ ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। आज़ादी के बाद चले प्रजातंत्रवाद के ढोंग को देखकर हर कोई विचलित है। जैनेंद्र कुमार ने 'समय और हम' में स्थिति का विश्लेषण करते हुए कहा है, "मुद्दे की बात संविधान में वयस्क चुनाव की है। मनों को जोड़ने की दृष्टि से चुनाव कोई बहुत अच्छी चीज नहीं है। फिर भी शायद अनिवार्य तो वह होता है। किंतु वहां मौलिक संशोधन की आवश्यकता है। चुनाव में से निष्पन्न यह होना चाहिए कि शिखर समाप्त हो जाए समाज का संस्थान स्तूपाकार बमी जैसा न हो। ऊपर के वर्ग नीचे के स्तर पर जब दबाव डाले रहते हैं तो श्रम चुसता है। धन पुजता है। इसमें मानवता की हानि है। समाज का विकास समान भूमि पर होना चाहिए। इस पर हमारा ध्यान हो।"

महात्मा गांधी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी संत विनोबा ने लोकतंत्रात्मक पद्धति का गहराई से विश्लेषण किया है। उन्होंने क्या है और क्या हो दोनों की विस्तृत व्याख्या की है। श्री गौतम बजाज द्वारा संपादित विनोबा साहित्य के खण्ड 16 में वे लिखते हैं, "आज तक की पद्धतियों में लोकतंत्र श्रेष्ठतम पद्धति है, यह मान्य है। लेकिन इसमें कुछ दोष हैं :

1. दूसरी पद्धतियों की तरह यह पद्धति भी हिंसाश्रित है।

2. इसमें संख्या गिनती को महत्व दिया गया है, जो यांत्रिक है।

3. इसमें अनेक पक्षों का होना ज़रूरी माना गया है, जो हानिकारक है।

4. आज की हालत में वह संकुचित प्रदेश भावनाओं का निवारण नहीं कर सकी, जिसमें राष्ट्रवाद भी है।

5. लोकशाही का सबसे बड़ा दोष यह है कि हमारा सारा दारोमदार चंद लोगों पर है। लोकमत का कोई सवाल नहीं। लोकशाही के खिलाफ मेरी आपत्ति यह भी है कि इसमें राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता भी होनी चाहिए जो कि नहीं है।"

इस प्रकार हमारा प्रजातंत्र पंच दोषों से युक्त है और इन दोषों का परिमार्जन करने का साहस कम–से–कम आज के राजनेताओं में तो नहीं है।

राजकृष्ण मिश्र ने 'दारुलशफा' में स्थितियों का विश्लेषण करते हुए कहा है, "पुरानी पीढ़ी के हाथों में सत्ता की बागडोर थी। वह पीढ़ी आज़ादी की लड़ाई के दिनों से अधिकारों, स्वार्थों के समझौते करती आ रही थी। उस पीढ़ी ने सत्ता का सुख भोगना शुरू किया तो बस उससे चिपक कर रह गई। जितनी तेजी से उत्पादन, समृद्धि, साधन बढ़ाने की योजनाएं बनतीं, उतनी ही तेजी से पुरानी पीढ़ी खुराकियों, मददगारों, गुटबाजों से घिरी जा रही थी। शासनतंत्र से बड़ा गुरु कौन होगा? कुर्सी सब कुछ सिखा देती है। फिर शासनतंत्र हाथ से निकलने, कुर्सी के नीचे खिसक जाने के डर से कोई भी उस धरातल पर नहीं जाना चाहता जहां बलिदानों की समाधि थी।"

लोकतांत्रिक पद्धति को टिकाए रखने का एक अहम अस्त्र है चुनाव। चुनाव के बिना संसदीय लोकतंत्र का कोई अस्तित्व नहीं है। जहां चुनाव होते हैं, वहां तनाव हो जाना स्वाभाविक है। भारत की विविधता ने राजनीतिक दलों को अनेक बार शक्ति प्रदान की है। दलबंदी ने कई बार दिलों को तोड़ा है। देश को कई प्रकार से खंडित किया है। विनोबाजी कहते हैं, "आज़ादी के बाद अपने देश में राज्यतंत्र चलाने के लिए हमने पश्चिम से लोकतंत्र का विचार उधार लिया है। समझने की बात है कि परिस्थिति बिलकुल भिन्न है। यहां कोई विदेशी सिद्धांत ज्यों का त्यों लागू नहीं हो सकता। यहां भाषा, प्रांत, जाति आदि अनेक भेद हैं। बहुत सारे प्रश्न हैं। फिर यह देश अत्यंत दरिद्र है। यहां ज़मीन भी कम है। भारत की परिस्थिति में यह पद्धति ठीक से अनुकूल हो जाए, इसके लिए उसमें कितने ही सुधार आवश्यक हैं। परंतु हमने तो वहां के

लोकतंत्र का ढांच पूरा का पूरा स्वीकार कर लिया है।"

आज़ादी के बाद लोगों का यह विश्वास था कि उनके सारे दु:ख, सारे क्लेश दूर भाग जाएंगे। उन्हें इससे कोई लेना-देना नहीं था कि समाजवाद अच्छा है या साम्यवाद अच्छा है या लोकतंत्र अच्छा है। प्रजा का ऐसा कोई आग्रह नहीं था। रोगी का ऐसा कोई आग्रह नहीं होता कि ऐलोपैथी अच्छी है या नेचरोपैथी अच्छी है या आयुर्वेदिक पद्धति अच्छी है। चाहे जो पद्धति हो, उसका रोग मिटना चाहिए यही उसका आग्रह होता है। इसी तरह प्रजा का यह आग्रह भी नहीं था कि अमुक पद्धति से सुखी करोगे तो ही सुखी होंगे। चाहे जैसे भी हो, प्रजा सुखी होना चाहती थी। लेकिन जो व्यवस्था हमने अपनायी उसमें लोगों की दशा बद से बदतर होती चली गई। 'सुख' केवल शब्दकोष की शोभा बढ़ाता रहा। संविधान में जिस कल्याणकारी राज्य की स्थापना की भावना व्यक्त की गई थी, उसे पद्धति दोष के कारण हम आज़ादी के आधे दशक के बाद भी प्राप्त करने में असफल साबित हो रहे हैं।

आज विभिन्न प्रकार के समझौतों का नाम ही राजनीति हो गया है और नेता इसे लोकतंत्र के नाम पर चला रहे हैं। उन्हें समझौता नहीं करने पर लोकतंत्र खतरे में दिखाई देने लगता है। लोकतंत्र का एक अनिवार्य अंग है लोक शिक्षण और मतदाता प्रशिक्षण। आज़ादी मिलने के समय देश की अधिकांश जनता निरक्षर थी। अशिक्षित जनता पर सवारी गांठने का लोकतंत्र से बढ़िया उपाय हो ही नहीं सकता था। स्वयं नेताओं की स्थिति भी शिक्षा को लेकर ठीक नहीं थी। 'अमृत और विष' उपन्यास में अमृतलाल नागर लिखते हैं, "प्रतिवर्ष लाखों निकम्मे गुलाम हम आज़ाद भारत में भी पैदा करते चले जा रहे हैं। दुहाई है हमारे पढ़े-लिखे नेताओं की। दुनिया के किसी भी पिछड़े देश के नेताओं में शायद ही इतने विचारशून्य राजनीतिक गुटबाज मिलते हों।"

लोकतंत्र में चारों ओर अधिकारों की पूर्ति का शोर तो उठता है, लेकिन कर्तव्यों की बात कोई नहीं करना चाहता। मंत्री से लेकर संतरी तक और ऊंचे लोगों से लेकर आम आदमी तक अधिकारों के प्रति इतने ज्यादा सचेत हैं कि कर्तव्य पूरे करने की बात याद ही नहीं आती। अमृतलाल नागर ने इस पर विचार करते हुए लिखा है, "एक ओर जहां मुझे अपना आज का भारत पहले से कहीं उन्नत और वैभवशाली लगता है, वहीं मुझे अपने बचपन और जवानी के दिनों से यह देश कहीं अधिक खोया हुआ, निष्प्राण और निकम्मा लगता

है।... आज़ादी मिल गई है, बड़े-बड़े बांध, नदी-घाटी योजनाएं, बड़ी-बड़ी कल-पुरजे बनाने वाली फैक्टरियां यह सब कुछ थोड़ा बहुत अवश्य हो रहा है, लेकिन आमतौर पर शहरी बाबू और नौजवान निष्क्रिय, अस्वस्थ और विचार शून्य निकम्मे और परावलंबी हो रहे हैं। मुझे हैरत होती है कि आज हर तरफ मांगें पूरी करने के नारे ही अधिकतर लगते हैं, स्वयं हमारे भी कुछ कर्तव्य हैं जिन्हें पूरा करने की बात दिमाग से एकदम भुला दी जाती है।"

समाज और राज्य के समुचित सहयोग से मानवता का विकास संभव है। राजसत्ता अपने पालनकर्ता के कर्तव्य से दूर हो गई है, इसलिए मानव-समाज में अशांति, दु:ख और अन्यान्य अव्यवस्थाओं ने अपने पैर जमा लिए हैं। साठोत्तरी उपन्यासकारों ने स्वयं को राजनीति से असंपृक्त रखकर अपने उपन्यासों में लोकतंत्रात्मक पद्धति के दोषों का विशद विवेचन किया है। लोकतंत्र की मुख्य धुरि चुनाव है, चुनाव है तो राजनीति है और स्वयं को स्थापित करने की अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा है। चुनाव के दिनों में भारत की स्थिति बड़ी विचित्र हो जाती है। पांच वर्ष तक और आजकल तो ढाई-तीन वर्ष तक जो गंदगी लोक समुद्र में गहरे जमी रहती है, वह चुनाव का पत्थर पड़ते ही ऊपर आ जाती है। लोग एक झटके में धार्मिक, सांप्रदायिक, जातिवादी, भाषावादी, पंथवादी, पक्षवादी, प्रांतवादी हो उठते हैं। कुकुरमुत्ते के समान उगे राजनीतिक दलों का कोई वैचारिक आधार कभी नहीं रहा। देश की विविधता का इस्तेमाल अपने पक्ष में करने के लिए नेताओं ने सदा देश को खंडित करने का प्रयास किया। 'प्रश्न और मरीचिका' उपन्यास में शर्माजी कहते हैं, "समय की धारा और परिस्थिति के खिलाफ एक हद तक ही बढ़ा जा सकता है शफी। आज हिंदुस्तान वह नहीं है जो आजादी के पहले था। हरेक आदमी धीरे-धीरे चरित्रहीन और बेईमान होता जा रहा है। या यों कहें कि परिस्थितियों द्वारा बनाया जा रहा है। जिंदा रहने के लिए इन बुराइयों से समझौता करना ही पड़ेगा।"

इसके अलावा... "मुहम्मद शफी में न जाने कहां का परिवर्तन आ गया था। उनका स्वर तीखा और साधिकार हो गया था। नेकी पर अड़ना और नेकी पर जान देना इसी पागलपन को लेकर हमने आजादी की लड़ाई लड़ी थी। यही पागलपन असली जिंदगी है।... इस कांग्रेस सरकार ने ऐसा माहौल पैदा कर दिया है कि लोग बदी की तरफ बढ़ें, बदी में ही फले-फूलें।"

स्वतंत्र होने के बावजूद नागरिक स्वयं को गुलाम महसूस करते हैं। राजनेताओं ने देश की जनता को हमेशा स्वतंत्रता की असली खुशबू से महरूम रखा। भगवतीचरण वर्मा लिखते हैं, "स्वतंत्र तो देश हुआ है, आदमी कब स्वतंत्र हुआ है? सत्ता इंग्लैंड के गोरे आदमियों के हाथ से निकलकर हिंदुस्तान के काले या भूरे आदमियों के हाथ में आ गई है।" सैकड़ों वर्षों से देश में राजा और प्रजा का संबंध कायम है। आज लोकतंत्र में अपने-अपने जिलों के नेता राजा हो गए हैं। कहने को लोकतंत्र में वे देश की सेवा कर रहे हैं लेकिन वास्तव में वे सेवा स्वयं की कर रहे हैं न कि देश की।

भारतीय राजनीति आज अपने निकृष्टतम बिंदु पर है। वह समस्याओं का समाधान करने के बजाय स्वयं एक समस्या बन चुकी है। राजनीतिक दलों को संदेह की नजर से देखा जाता है और नेताओं को घृणा की नजर से। क्या यह विफलता लोकतंत्र के उस तामझाम की है, जो हमने पश्चिम से उधार ली है? या हमारा अपना समाज ही संसदीय लोकतंत्र की कसौटी पर खरा नहीं उतर रहा है? हम अपने जनतंत्र की तुलना पश्चिम यूरोप या अमेरिका से करते हैं और सोचते हैं कि जनतंत्र वहां सफल है। हम जनतंत्र को सफल नहीं बना पा रहे हैं यह असफलता हमारी विशेषता है। मौजूदा विकास नीति और मौजूदा जनतांत्रिक प्रणाली को बदले बगैर वैकल्पिक राजनीति भी संभव नहीं है।

राजकृष्ण मिश्र ने अपने उपन्यास 'मंत्रिमंडल' में नेताओं द्वारा प्रजातंत्र को राजतंत्र के समान चलाने की बेढंगी चालों को उद्घाटित किया है। हमारा लोकतंत्र पैरों पर नहीं बल्कि सिरों की गिनती पर टिका है। शायद इसलिए आजादी के इतने वर्षों बाद भी यह जमीन पर नहीं उतर पाया है। बलदेव चौधरी ने कहा, "आप ही तो कहा करते हैं न, सत्ता का खेल ताकत से, गिनती से खेला जाता है, कितने विधायक, कितने लोग साथ हैं, इसी पर सरकारें बनती हैं न!"

समय बदला है। समय के साथ लोगों के मूल्य और मानदंड बदल गए हैं। आदर्श और सिद्धांत, मूल्य और मानदंड, व्यक्ति से, समूह से प्रतिपादित हुआ करते हैं। व्यक्ति के साथ-साथ समूह भी अपने सिद्धांतों पर टिके न रह सके। श्री मिश्र ने प्रजातंत्र की व्यवस्था को कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त किया है, "प्रजांतत्र, चुनाव, विधायक, नेता के गिरोह में फंसी हुई भोली जनता को कहां पता था, लूट कहां हैं, गड़बड़ कौन कर रहा था। सीधा खेल था, राज्यतंत्र

को सत्ता हथियाने का। जिस तरह हर खेल के कुछ नियम हुआ करते हैं, उसी तरह इस खेल के भी कुछ नियम थे। चुनाव का नाटक होगा, बयान होंगे, भाषण मीटिंग और जुलूस और नारों के शोरगुल और चीख-पुकार के बीच, कब किसी चोर की तरह, कौन नेता उठा ले जाएगा, विश्वास की धरोहर को, जिसकी तिजारत नहीं होती। लेकिन जिस देश में धर्म की ईश्वर की तिजारत हो सकती थी, वहां विश्वास की तिजारत को कौन रोक सकता था। भाई, भतीजा, भानजा, पुत्र-मोह, पत्नी-मोह से जुड़े हुए थे, लालच, लिप्सा और लालसा के सपने, भूख, हवस और ढकोसलों की तस्वीरें जिनका घिनौना सा रूप देख-देखकर राघव नफरत की आग में सुलगने लगता था। राजनैतिक दल, दलगत राजनीति के अनेक रूप थे, लेकिन उसे कहीं भी, कोई भी, किसी भी प्रकार का भी, ऐसा कुछ नहीं दिखा था, जिसकी आस्था के सहारे वह आगे बढ़ सकता था। जो मुखौटे सामान्य जीवन-यापन के लिए व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए लगाए जाते, उन मुखौटों का इस्तेमाल राजनीतिक जीवन के लिए किया जा रहा था। घूस, चोरी, भ्रष्टाचार पुरानी बातें हो चुकी थीं, पूरी एक मानवता, दिन-रात, समाज, देश और राष्ट्र की बुनियाद को नोच-खसोट कर खोखली किए डाल रही थी।"

आजादी के आंदोलन में जनता ने अपने लिए कुछ सपने देखे थे। उसने सोचा था कि बस एक बार अंग्रेज चले जाएं, उसके बाद हम ही हम होंगे। अपनी जमीन होगी, अपना आसमान होगा। अपने विकास की नीतियां हम खुद बनाएंगे। देश को पूरे विश्व में सिरमौर बनाएंगे। लेकिन यह सब केवल ख्वाबों में ही रह गया। राजकृष्ण मिश्र ने 'दारुलशफा' में राजनीति की सच्चाइयों को उजागर करते हुए लिखा है, "राघव जानता था, राघव को पता था, युग के परिवर्तन के साथ मूल्य बदल जाते, तरीकों में परिवर्तन हो जाता, लेकिन यहां कहां हुआ था, वह सब। आजादी के बाद, जहां एक तरफ तैयार हो रही थी भूखों, नंगों की फौज, वहां दूसरी तरफ तैयार हो रही थी लूटने वालों की फौज। दोनों फौजें आमने-सामने खड़ी थीं, लड़ने के लिए। लेकिन वह लड़ाई, वह संघर्ष, कुछ दूसरे प्रकार का था। इस संघर्ष में, लूटे जाने वाला, पहले ही लुटा जा रहा था। फरक अगर था तो वह फरक था तरीकों का, हथियारों का, मुखौटों का। पहले जमाने में राजा, जमींदार, कारिंदे, लठैत हुआ करते थे, जिनकी इच्छाओं से, भूखों से, नंगों की फौज के सपनों का दीदार हुआ करता था।

उनकी कृपा से इंसान आंख खोलता और बंद करता था, हंसता, मुस्कराता और रोता था। उन दिनों छोटी-छोटी लड़ाइयां होती थीं, छोटी-छोटी मिलकियत को बचाने के लिए, बढ़ाने के लिए। बड़ा लुटेरा, छोटे लुटेरों को लूटता था और आम आदमी को भी लूटता था। खाली पेट, नंगा बदन, खुला आसमान, बस इसी आसरे पर सदैव ही पूरी की पूरी मानवता ने जीवन जिया, वक्त गुजारा था। रात के अंधेरे में राघव को अपने चारों तरफ नाचती हुई वो परछाइयां दिखाई पड़तीं, जिन्होंने सदियों, शताब्दियों से किसी भयावह कोलाहल के बीच, सुलगते हुए अंगारों के दामन से, उपजती हुई लपटों के चीत्कार से अपने को बांध रखा था। वे परछाइयां कौन थीं। वह तो थीं, जन्मते और मरते आदमी के जीवन का प्रतिरूप जो स्वार्थ, लिप्सा और लालसा के दावानल में सुलग रही थीं, हमेशा से।"

लेखक ने आजादी के बाद के माहौल को, खासकर सन् साठ के बाद बदली हुई परिस्थितियों का विस्तार से विवेचन करते हुए प्रश्न किया है कि प्रजातंत्र किसे कहा जाए? "पहले डाकू होते थे और जमींदार होते थे। दोनों के तालमेल से व्यवस्था चलती थी। राघव ने देखा था वक्त बदलते ही डाकू की जगह ले ली थी नेता ने और जमींदार ने, राजा, ताल्लुकेदार, नवाब की जगह ले ली थी अधिकारियों मंत्रियों ने और दलगत राजनीति चलाने वाले ठेकेदारों ने। गुंडे, लफंगे, गैंगस्टर, हिंसा और अपराध का संसार चलाने वाले और बाहरी दिखावे के लिए बनी पुलिस से मिलकर उस, बिना कपड़े, खाली पेट, नंगे आसमान के नीचे खड़ी मानवता को लूट रहे थे। वही मानवता, वही लोग, वही इन्सानियत का हुजूम मौजूद था, उन्हीं की जयजयकार करने के लिए क्योंकि लुटेरों ने जो मुखौटे लगा रखे थे। कौन-सा हाथ लूटने के लिए, कौन-सा हाथ बचाने के लिए इसका फरक करना मुश्किल था। बचाने वाला हाथ लूटने वाले हाथ से कितना दूर था, उससे जुड़ा हुआ था या अलग था, इसकी जानकारी करना बड़ा मुश्किल था। इसी को प्रजातंत्र कहा जाएगा।"

'दारुलशफा' उपन्यास में एक पात्र बाछिल मामा के माध्यम से जनता के सपनों को स्वर दिया है। लोकतंत्र में जनता का इतना शोषण होगा, यह आजादी आंदोलन के कर्णधारों ने नहीं सोचा था। परिवर्तन के स्थान पर नौकरशाही को वहीं का वहीं रहने दिया। जो लोग पहले अंग्रेजों के हुक्म की तामील करते थे, वे ही अब नौसिखिए नेताओं को अपने हिसाब से काम करने

के तरीके सिखाने लगे। इससे नौकरशाही, नेताओं पर हावी होती गई। "लेकिन आजादी मिलने के बाद वह सचिवालय कहां गया। बाछिल मामा उदास हो जाते। उनके अंदर एक समूचे जीवन की यादगार अंगड़ाइयां लेने लगतीं। यही था वह सचिवालय जिसे महात्मा गांधी का भारत बनाना था। क्या इसी सचिवालय से जवाहरलाल, सरदार पटेल, राजेंद्र प्रसाद के सपनों की पूर्ति होनी थी। क्या इसी सचिवालय की परिकल्पना में भारत का आम आदमी डूबा हुआ था, जब देश को आजादी मिली थी। बाछिल मामा की आंखें भर आईं। जब रात के अंधरे में कांक्रीट और पत्थरों के इस जंगल को वह देखते। जैसे कोई विशाल महामानव, असीम विस्तार के लिए चुपचाप पचास साल से खड़ा था लेकिन जिसकी रूह कब की उड़ चुकी थी। जब देश को आजादी मिली थी, तब बाछिल मामा सोचा करते, कोई गरीब नहीं होगा, किसी को भूखा नहीं मरना होगा, जेल खाली होंगी, पुलिस-कचहरी बेकार हो जाएगी। सचिवालय के लोगों को रोजगार ढूंढ़ना पड़ेगा। कितने दिन गुजर गए तब से, सब चीज वैसी की वैसी है, कहीं कुछ नहीं बदला।... कभी-कभी तो बाछिल मामा बेहद उदास हो जाते। उनकी आंखें गीली हो जातीं।.... सचिवालय में जैसे नरमेध यज्ञ चल रहा था। जहां स्वार्थ, लिप्सा, लोलुपता, भ्रष्टाचार, व्यभिचार की आहुतियां, पूरी आबादी को लील जाने के लिए लगी हुई थीं। तभी तो सचिवालय में जाने के लिए घंटों लाइन में खड़े होकर पास बनवाना पड़ता था। गरीब की विपदा सुनने के लिए तब भी सचिवालय में किसी के पास समय नहीं होता।"

आज देश का लोकतंत्र पूंजीपतियों के पैरों में पड़ा सिसक रहा है। गरीब आदमी जैसे-तैसे चुनाव लड़ता भी है, जीत भी जाता है तो उसे भी पूंजीपति खरीद लेते हैं। अलबत्ता आज चुनाव में इतनी अधिक राशि खर्च होती है कि उसका उम्मीदवार बनना ही नामुमकिन हो गया है। लोग पार्टियों से बंध गए हैं। विचार गलत होते हुए भी यदि किसी एक पार्टी में निष्ठा है तो वह पार्टी को महत्व देते हुए विचारधारा को स्वीकार करता है और उसके समर्थन में प्रचार भी करता है। ऐसे लोकतंत्र से देश का भला किस प्रकार हो सकता है। इस तंत्र को ढोने में देश की जनता की कमर झुक गई है। उसमें वह स्फूर्ति, उत्साह नहीं रह गया है, जिससे किसी देश का निर्माण हुआ करता है। ❑